Shodhshauryam, International Scientific Refereed Research Journal
© 2022 SHISRRJ | Volume 5 | Issue 4 | ISSN : 2581- 6306

स्मृति साहित्य में वर्णव्यवस्था की अवधारणा

प्रभा चतुर्वेदी

शोध छात्रा, संस्कृत विभाग, राजकीय महाविद्यालय, कोटा, राजस्थान।

Article Info
Volume 5, Issue 4
Page Number : 35-46

Publication Issue :
July-August 2022

Article History
Accepted : 01 July 2022
Published : 20 July 2022

सारांश- मानव के विभिन्न अंग उसके लिए जितने महत्त्वपूर्ण हैं उतने ही समाज के लिए ये चारों वर्ण आवश्यक थे। चारों वर्गों में से प्रथम तीन–ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य को 'द्विज' की संज्ञा दी गयी थी। इन तीनों को द्विज इसलिए कहा जाता था कि इनका प्रथम जन्म माता के गर्भ से और द्वितीय जन्म उपनयन के समय यज्ञोपवीत धारण करने से माना जाता था।चतुर्थ वर्ण शूद्र को अन्य तीन वर्णों की अपेक्षा निम्न स्थान दिया गया था और अन्य किसी पंचम वर्ण को मान्यता नहीं दी गयी थी।

मुख्य शब्द- स्मृति, साहित्य, वर्णव्यवस्था, समाज, मनुष्य, शिक्षण, संस्कृति, सभ्यता।

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। समाज से पृथक् रहकर उसका अपना कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है। समाज को व्यवस्थित, समुन्नत एवं सुसंगठित बनाने का पूर्ण दायित्व भी मनुष्य का ही है। इसलिये प्राचीन भारतीय मनीषियों ने एक आदर्श समाज की परिकल्पना की, जिसे साकार या मूर्तरूप देने के लिए नानाविध संस्थाओं को विकसित किया। जिनमें से एक 'वर्णव्यवस्था' थी। यह सामाजिक स्तरीकरण की एक ऐसी व्यवस्था थी, जो समाज के प्रत्येक वर्ग को समान महत्त्व एवं अवसर प्रदान कर, उसके कर्त्तव्य–कर्मों पर बल देती थी, जिससे उनमें सामञ्जस्य बना रहे, संघर्ष की स्थिति उत्पन्न न हो, क्योंकि सभी को समान अधिकार प्रदान करने पर समाज में शांति–व्यवस्था का बने रहना असम्भव है।[1]अतएव मनुष्य जोकि समाज की एक महत्त्वपूर्ण इकाई है, उसे चार वर्गों में विभाजित किया–ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र। उनके लिए क्रमशः शिक्षण, शासन, व्यवसाय एवं श्रम को निर्धारित किया गया। इसके अधीन रहकर ही सभी वर्ण अपने धर्म का पालन करते थे और समाज के प्रति अपना पूर्ण उत्तरदायित्व निभाते थे। यही कारण है कि यह हजारों वर्षों तक भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता का अभिन्न अंग बनी रही।

वर्ण शब्द की व्युत्पत्ति एवं अर्थ - वर्ण शब्द अति प्राचीन है जिसका सर्वप्रथम वर्णन हमें ऋग्वेद में उपलब्ध होता है। जहाँ यह 'रंग' अथवा 'प्रकाश[2] के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। वहाँ पर यह जनसमुदाय[3] के रूप में भी आया है जो आर्य (द्विजाति) तथा अनार्य (शूद्र) की रचना व विकास तथा मानवमात्र का कल्याण ही इसका ध्येय है, जो इसकी महत्ता को स्वतः स्पष्ट करता है।

Copyright: © the author(s), publisher and licensee Technoscience Academy. This is an open-access article distributed under the terms of the Creative Commons Attribution Non-Commercial License, which permits unrestricted non-commercial use, distribution, and reproduction in any medium, provided the original work is properly cited

यह ग्रन्थ प्राचीन भारतीय संस्कृति, सभ्यता, परम्परा, धर्म, आचार, नैतिकता आदि पर मूल्यवान् प्रकाश डालता है और इतने विषयों का सूक्ष्मदृष्टि से विशद् विवेचन करता है कि सीमित शब्दों में बहुत कुछ कह देना सम्भव नहीं है। अट्ठारह अध्यायों में निहित गहन चिन्तन या विषय, यथा–ब्राह्मणादि वर्गों के कर्म, चारों आश्रमों के धर्म, संस्कार, पञ्चमहायज्ञ, आचमन, प्राणायाम, योग, अघमर्षण, गायत्री–जप, तर्पण, शुद्धि, अशौच, श्राद्ध तथा प्रायश्चित्त विधान आदि इसके महत्त्व को प्रकट करते हैं। मानवजीवनोपयोगी ये समस्त मूल्य समाज को अनुशासित, व्यवस्थित व विधिसम्पन्न बनाते हैं। मनुष्य का शारीरिक, मानसिक व बौद्धिक विकास कर उसमें उच्च नैतिक गुणों का आधान करते हैं। उसके चरित्र का निर्माण कर अन्त:करण की शुद्धता व पवित्रता को स्थापित करते हैं। उसे सदाचार, शिष्टाचार, अनुशासन, संयम एवं विनम्रता का पाठ पढ़ाकर व्यवहारकुशल व धर्मपरायण बनाते हैं। प्राणीमात्र में समता का भाव उत्पन्न करते हैं जिससे मनुष्य सर्वाङ्गीण विकास के साथ–साथ समाज के प्रत्येक वर्ग–मनुष्य, देव, पितर आदि का पोषण करते हुए उसका विकास कर सके। अतएव इसमें निहित शिक्षा कर्त्तव्यच्युत को धर्मानुसार व नियमानुकूल सच्चरित्र जीवन व्यतीत करना तथा अनियमित व अनाचारयुक्त जीवन का त्याग करना सिखाती है जिससे मनुष्य सांस्कृतिक जीवन का विकास कर लोक और परलोक दोनों को सिद्ध कर सके।

आज के वैज्ञानिक युग में मनुष्य जहाँ मात्र स्वार्थसिद्धि रूपी लक्ष्य की प्राप्ति हेतु कर्म करता जा रहा है, प्रतिस्पर्धावश उसके अन्त:करण में जो दुष्प्रवृत्तियाँ जन्म लेती जा रही हैं तथा समाज में जो अव्यवस्था बढ़ती जा रही है, उसका कारण स्मृति विहित धर्मसम्बन्धी जीवन–मूल्यों को निरर्थक मानते हुए उनकी अवहेलना का ही दुष्परिणाम है। अत: इस स्मृति के आदर्श नियम व सिद्धान्त आज भी मनुष्य की चरमोन्नति में सहायक हैं।

की ओर संकेत करता है। परवर्ती साहित्य में यह विविध अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। निरुक्त में वर्ण की व्युत्पत्ति 'वृञ्' धातु से की गई है जिसका अर्थ है–चुनाव करना या वरण करना।[4]कोशग्रन्थ में वर्ण शब्द को 'वर्ण' धातुपूर्वक 'घञ्' प्रत्यय से निष्पन्न बताया है जिसमें उसके रंग, रूप, सौन्दर्य, मनुष्य श्रेणी, जनजाति, कबीला, ब्राह्मणादि जाति, श्रेणी, वंश, जनजाति इत्यादि अर्थ किये गये हैं।[5] इसके अतिरिक्त 'वृ' धातु का प्रयोग वरण, वर्णन, आच्छादित करने एवं जीविका के अर्थ में हुआ है[6]। कह सकते हैं कि जीविका आदि के लिए व्यवसाय का वरण करना 'वर्ण' है। अतएव वर्ण शब्द से आर्य एवं अनार्य जाति विशेष, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र–इन चार वर्णों का बोध होता है। वर्णव्यवस्था से तात्पर्य इन्हीं चार वर्णों से है।

कालान्तर में वर्ण' तथा 'जाति' शब्द को समानार्थक माना जाने लगा। महर्षि शंख ने वर्ण शब्द चारों वर्णों[7] के लिए प्रयुक्त किया है और 'जाति' शब्द 'वर्ण' के लिए नहीं वरन् मनुष्य जाति[8] के लिए किया है। स्मृतिकार मनु ने वर्ण शब्द का प्रयोग कुछ स्थानों पर 'जाति[9] अर्थ में तो कहीं पर मिश्रित जातियों[10] के अर्थ में किया है। आधुनिक समय में तो 'वर्ण' तथा 'जाति' को पर्याय ही माना जाता है, किन्तु इन दोनों का गहनतापूर्वक अध्ययन करें तो इनमें विभिन्नता दिखाई देती है।

'जाति' शब्द स्त्रीलिंग का वाचक है। जो 'जन्' धातु 'क्तिन्' प्रत्यय[11] अथवा जनी प्रादुर्भावे[12] धातु से निष्पन्न हुआ है। इसमें जनन या उत्पन्न होने का भाव निहित है। गौतमन्यायसूत्रभाष्य में जाति की व्युत्पत्ति करते हुए कहा है कि–

"समानप्रसवात्मिका जाति:।[13] अर्थात् जो प्राणी अपने ही समान प्रजनन में समर्थ हो, उसकी एक जाति होती है, यथा- मनुष्य जाति, पशु जाति, तिर्यक् जाति आदि। महाभाष्यकार ने आकृति भेद को जाति का बोधक मानते हुए जाति को परिभाषित किया है कि-"आकृति के द्वारा जिसका ज्ञान हो, जो सम्पूर्ण लिंगों को ग्रहण न करे और जो एक बार उपदेश से ही जान ली जाये, वह जाति है।[14] वस्तुत: जो शब्द सभी लिंगों में व्यवहृत न होकर मात्र स्त्रीलिंग व पुल्लिंग में प्रयुक्त हो, जातिवाचक शब्द है। राम शब्द जातिवाचक नहीं है, क्योंकि इससे मात्र एक व्यक्ति का बोध होता है जबकि कुम्हार, बढ़ई इत्यादि शब्द जातिवाचक हैं, क्योंकि इनसे अनेक मनुष्यों की कुम्हार आदि जाति के रूप में पहचान होती है और ये सभी शब्द मात्र स्त्रीलिंग और पुल्लिग में ही प्रयुक्त होते हैं। इस प्रकार मनुष्य जाति, गौ जाति, पशु जाति, पक्षी जाति इत्यादि आकृति भेद से पृथक्-पृथक् जातियाँ हैं।

श्री केतकर ने जाति को एक सामाजिक समूह मानते हुए इसकी दो विशेषताएँ बतलाई हैं (1) जाति की सदस्यता जन्मजात होती है तथा (2) इसके सदस्यों को एक सामूहिक नियमों के बंधन में ही रहना पड़ता है।[15] इसी प्रकार डॉ. एन.के. दत्त ने जाति के विषय में कहा है कि "एक जाति के सदस्य स्वजाति के बाहर विवाह सम्बन्ध नहीं कर सकते, अन्य जातियों के लोगों के साथ बैठकर न भोजन और न कोई पेय ही ग्रहण कर सकते हैं। अधिकतर जातियों का अपना एक निश्चित व्यवसाय होता है। इनके साथ ही कुछ ऊँच-नीच के विभेद परस्पर जातियों में बने होते हैं। किसी व्यक्ति का सम्बन्ध किसी जाति विशेष से जन्म के ही आधार पर किया जाता है। एक जाति का दूसरी जाति में परिवर्तन तब तक सम्भव नहीं है जब तक कि व्यक्ति को किसी विशेष नियम के उल्लंघन के कारण अपनी जाति से बहिष्कृत न कर दिया जाए।[16]

कुछ विचारकों ने वर्ण एवं जाति के अन्तर को स्पष्ट किया है। पी.वी. काणे के अनुसार "वर्ण की धारणा वंश, संस्कृति, चरित्र (स्वभाव) एवं व्यवसाय पर मूलत: आधारित है। इसमें व्यक्ति की नैतिक एवं बौद्धिक योग्यता का समावेश होता है और यह स्वाभाविक वर्गों की व्यवस्था का सूचक है। स्मृतियों में भी वर्गों का आदर्श है कर्त्तव्यों पर, समाज या वर्ग के उच्च मापदण्ड पर बल देना, न कि जन्म से प्राप्त अधिकारों एवं विशेषाधिकारों पर बल देना। जबकि जातिव्यवस्था जन्म एवं आनुवांशिकता पर बल देती है। यह बिना कर्त्तव्यों के आचरणों पर बल दिये, केवल विशेषाधिकारों पर ही आधारित कही जा सकती है।[17] इसी प्रकार वर्ण तथा जाति के भेद को अभिव्यक्त करते हुए किरण टण्डन ने वर्ण को कर्ममूलक तथा जाति को जन्ममूलक कहा है। उनके मत से "वर्णव्यवस्था लचीली है, क्योंकि व्यक्ति का वर्ण उसके कर्मानुसार बदल सकता था, यथा-जाति की दृष्टि से विश्वामित्र क्षत्रिय थे, किन्तु वर्ण की दृष्टि से 'ब्रह्मर्षि' पद प्राप्त करने पर ब्राह्मण बन गये थे। यह व्यवस्था समानता के सिद्धान्त का पालन करती है। इसमें अनुलोम विवाहादि की स्वीकृति मिल जाती है। यह कर्त्तव्यनिष्ठा का प्रतीक तथा सामाजिक अनुशासन का मूल है। इसके विपरीत जातिव्यवस्था कठोर है, क्योंकि जाति में परिवर्तन सम्भव नहीं है। यह ऊँच-नीच, असमानता, भेदभाव का प्रतीक बनी हुई है। इसमें एक जाति के व्यक्ति के वैवाहिक सम्बन्ध दूसरी जाति के व्यक्ति से नहीं हो सकते । यह सामाजिक, धार्मिक प्रतिबन्धों पर जोर देती है तथा यह वर्णव्यवस्था का ही विकृत रूप है।[18] वस्तुत: वर्ण और जाति दोनों भिन्न अभिप्राय के वाचक हैं, किन्तु वर्तमान समय में लोग भ्रमवश दोनों को एक ही अर्थ का बोधक समझ लेते हैं।

वर्णों की उत्पत्ति तथा विकास - वर्णों की उत्पत्ति विषयक धारणा सर्वप्रथम ऋग्वेद के पुरुषसूक्त से स्पष्ट होती है। जहाँ विराट् पुरुष के मुख, भुजाओं, जंघाओं एवं पैरों से क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र की उत्पत्ति बतलाई गई है।[19]जो प्राचीन- कालीन वर्णव्यवस्था को द्योतित करती है। जबकि कुछ विचारकों के अनुसार यह सूक्त अर्वाचीन है। उनका मानना है कि काल की दृष्टि से यह सूक्त बाद में जोड़ा गया है।[20] परवर्ती साहित्य में भी वर्गों के उत्पत्ति विषयक इसी सिद्धान्त को यथावत् स्वीकार कर लिया गया।[21] वर्णों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में तैत्तिरीय ब्राह्मण में भेद अवश्य मिलता है जिसमें तीन वेदों में तीन वर्षों की उत्पत्ति कही गयी है, यथा-सामवेद से ब्राह्मण, यजुर्वेद से क्षत्रिय एवं ऋग्मन्त्रों से वैश्य।[22] स्मृतिकार मनु ने वर्णों की उत्पत्ति का आधार ब्रह्मा को मानते हुए कहा है कि सृष्टि के विकास हेतु स्वयं ब्रह्मा ने इनकी उत्पत्ति की है।[23] महाभारत के शांतिपर्व से ज्ञात होता है कि ब्रह्मा ने एक साथ चारों वर्गों को उत्पन्न नहीं किया वरन् सर्वप्रथम ब्राह्मण को उत्पन्न किया और बाद में उसकी सहायता के लिए अन्य वर्णों को। जिनमें प्रारम्भ में किसी प्रकार का कोई भेद नहीं था, सम्पूर्ण जगत् ही ब्राह्मण था अर्थात् एक ही वर्ण था-ब्राह्मण, किन्तु बाद में कर्मों की विविधता के कारण ब्राह्मण ही अपने-अपने कर्मानुसार पृथक्-पृथक् वर्गों में विभक्त हो गया।[24] यहाँ इतना तो स्पष्ट होता है कि पहले वर्णभेद नहीं था, लेकिन बाद में सामाजिक आवश्यकताओं के परिप्रेक्ष्य में कर्म के अनुसार वर्ण विभाजन हो गया।

कर्म-विभाजन के कारण ही विभिन्न जातियों का उद्भव हुआ।[25] वैदिकग्रन्थों में चारों वर्गों के अतिरिक्त कुछ ऐसे व्यवसायों के नामोल्लेख मिलते हैं। जो बाद में जाति के परिचायक हो गये थे, यथा-बढ़ई, रथकार, वैद्य, लोहार, कुम्हार, चमार इत्यादि। धर्मशास्त्रीयग्रन्थों[26] में भी असंख्य जातियों-चाण्डाल, अम्बष्ठ, आयोगव, आश्विक, कुम्भ-कार, चर्मकार (चमार), कर्मकार (लोहार), कांस्यकार आदि के होने का वर्णन मिलता है। यहाँ पर चाण्डाल-शूद्र द्वारा ब्राह्मणी में उत्पन्न प्रतिलोम सन्तान है। जो शवों को ढोने या जल्लाद का कार्य करता है। अम्बष्ठ-ब्राह्मण एवं वैश्य नारी की अनुलोम सन्तान है। यह शल्यजीवी या वैद्य का कार्य करने वाला है। आयोगव-वैश्य पुरुष एवं क्षत्रिय नारी से उत्पन्न प्रतिलोम सन्तान है। इसका कार्य लकड़ी काटने, धान उत्पन्न करने या कपड़े बेचने का है। आश्विक-क्षत्रिय पुरुष एवं वैश्य नारी के गान्धर्व विवाह से उत्पन्न है। यह घोड़े का व्यापार करने वाला है।[27] इसी प्रकार स्मृतिग्रन्थों[28] के अध्ययन से ज्ञात होता है कि तत्कालीन समाज में कतिपय जातियाँ व उपजातियाँ बन चुकी थी। शंखस्मृति में चारों वर्गों-ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र के अतिरिक्त शिल्पकार, नट, चिकित्सक, स्त्री व मृगों से आजीविका कमाने वाले, चमार, रागी, सुनार, ब्याज से आजीविका करने वाले, कुत्तों से आजीविका करने वाले, मूंज से आजीविका करने वाले तथा वणिक् जातियों का वर्णन उपलब्ध होता है[29]। आज जो विविध जातियाँ दिखाई देती हैं वे प्रचलित ऐतिहासिक आचार परम्पराओं एवं धार्मिक, आर्थिक कारकों का ही परिणाम है।

वर्ण विभाजन का आधार - वर्ण विभाजन के सम्बन्ध में सामान्यतः तीन सिद्धान्त प्रचलित हैं-कर्मगत, गुण एवं कर्मगत तथा जन्मगत एवं कर्मगत। इन तीन सिद्धान्तों के अन्तर्गत ही वर्ण-विभाजन विषयक समस्त विषयों का समावेश हो जाता है।

कर्मगत - प्राचीनकालीन वर्णव्यवस्था में कर्म को विशेष महत्त्व दिया गया था। इसमें व्यक्ति की योग्यता व क्षमता के आधार पर कर्त्तव्य–कर्मों पर बल दिया गया था। यह सिद्धान्त मुख्यत: दो मान्यताओं पर प्रकाश डालता है। प्रथम तो यह है कि जिस व्यक्ति ने अपनी क्षमता के अनुसार जिस कर्म या व्यवसाय को स्वीकार किया, उसी के आधार पर उसके वर्ण का निर्धारण हुआ, यथा–ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र। अतएव जो व्यक्ति ब्राह्मण कुल में उत्पन्न हुआ है वह सदैव ब्राह्मण रहे, यह आवश्यक नहीं था, वह अपनी इच्छानुसार किसी भी वर्ण का वरण कर सकता था। ऋग्वेद में एक ऐसे परिवार का वर्णन प्राप्त होता है जिसमें एक मंत्रकार के पिता को वैद्य तथा माता को अनाज पीसने वाली बताया गया है।[30] साथ ही ब्राह्मणत्व जन्म से नहीं वरन् आचरण से माना गया था। एक संवाद के अनुसार जबाला का पुत्र सत्यकाम हरिद्रुमत के पुत्र गौतम के पास जाकर कहता है–भगवन् ! मैं आपका ब्रह्मचारी बनना चाहता हूँ। इसलिये आपके समीप आया हूँ। तब आचार्य गौतम ने कहा–हे सौम्य! तुम किस वंश के हो, उसने कहा –भगवन् ! मैं नहीं जानता कि मैं किस वंश का हूँ। मैंने अपनी माता से पूछा था। उसने कहा है कि अपनी युवावस्था में मैंने दासी के रूप में अनेक लोगों की सेवा की थी, तब तुझे प्राप्त किया था। इसलिये मैं नहीं जानती कि तू किस वंश का है। मेरा नाम जबाला है और तू सत्यकाम है। तू अपने को सत्यकाम जाबाल बतला देना। अतएव हे गुरु! मैं सत्यकाम जाबाल हूँ। गौतम ने सत्यकाम से कहा–एक सच्चे ब्राह्मण के अतिरिक्त अन्य कोई इतना स्पष्टवादी नहीं हो सकता, जाओ उपनयन के लिए समिधा ले आओ। मैं तुम्हें अपना शिष्य स्वीकार करता हूँ, क्योंकि तूने सत्य का त्याग नहीं किया।[31] दूसरे मत के अनुसार किये गये कर्मों के प्रतिफल के रूप में प्राप्त पुनर्जन्म, यथा–शूद्र के घर जन्म लेने वाला व्यक्ति यदि अपने जीवनकाल में अच्छे कर्म करता है तो हो सकता है वह पुनर्जन्म में उच्च वर्ण को प्राप्त करे, क्योंकि ऐसा माना जाता है कि व्यक्ति के द्वारा किया गया कर्म कभी व्यर्थ नहीं जाता अपितु उसका प्रतिफल अवश्य प्राप्त होता है।[32]

गुण एवं कर्मगत - यहाँ गुण तथा कर्म से अभिप्राय व्यक्तियों की स्वाभाविक प्रवृत्तियों एवं उसके सामाजिक दायित्वों से है, जिसके आधार पर उन्हें चार वर्गों में विभाजित किया गया था। गीता में भगवान् श्रीकृष्ण ने स्वयं कहा है कि–मैंने गुण और कर्म के आधार पर चारों वर्गों की सृष्टि की है।[33]गुण तीन प्रकार के कहे गये हैं–सत्त्व, रजस् एवं तमस्।[34] इनमें सत्त्वगुण निर्मल, प्रकाशमान एवं क्लेशरहित होने के कारण सुख तथा ज्ञान की प्राप्ति कराने वाला है। रजोगुण राग–द्वेष एवं विषयों की ओर आकृष्ट कर कर्म की ओर प्रेरित करता है। तमोगुण प्रसाद, आलस्य, निद्रा को उत्पन्न कर मोहयुक्त कर देता है। अतएव सत्त्वगुण धर्म, रजोगुण अर्थ तथा तमोगुण काम या अज्ञान का हेतु है। इनमें धर्म की ओर प्रवृत्त करने के कारण सत्त्वगुण सर्वश्रेष्ठ है।[35] महाभारत के एक पद्य से स्पष्ट होता है कि ब्रह्मा ने वर्गों की उत्पत्ति सम्भवत: सत्त्व, रजस् एवं तमस्–इन तीन गुणों[36] के आधार पर की हो, तभी तो ब्राह्मणों में सत्त्वगुण व पवित्रता की, क्षत्रियों में रजोगुण व तेज की, वैश्यों में रजस् व तमस् की तथा शूद्रों में तमोगुण व अज्ञान की प्रधानता मानी गयी है।[37] जिस प्रकार चारों वर्गों के गुण भिन्न–भिन्न हैं उसी प्रकार उनके पुरुषार्थ (कर्म) भी अलग–अलग हो गये। धर्म कार्य को करने वाले ब्राह्मण, विषयों में आसक्त, तीक्ष्ण स्वभाव वाले, क्रोधी तथा साहस का काम करने वाले क्षत्रिय, कृषि, व्यवसायादि को प्रधानता देने वाले वैश्य तथा पवित्रता एवं सदाचार से हीन एवं लोभयुक्त होकर निन्दित कर्मों से जीविका चलाने वालों को शूद्र कहा जाने लगा।[38] इस प्रकार गुणों के आधार पर चारों वर्गों के पुरुषार्थ में भेद हो गया।

जन्मगत एवं कर्मगत - स्मृतियों ने जन्मगत एवं कर्मगत दोनों सिद्धान्तों को मान्यता दी है। इनके प्रणयन समय में वर्णव्यवस्था इतनी अधिक सुदृढ़ हो गयी थी कि वर्ण का आधार जन्म को स्वीकार किया जाने लगा था, कर्म को नहीं। इस सिद्धान्त के अनुसार व्यक्ति जिस किसी वर्ण में जन्म लेता है वह उसी वर्ण का माना जाता है, यथा–ब्राह्मण का पुत्र ब्राह्मण एवं क्षत्रिय का क्षत्रिय होगा। स्मृतियों में ऐसे बहुत से उद्धरण मिलते हैं जो जन्मना वर्णव्यवस्था की पुष्टि करते हैं। मनुस्मृति में जन्म से ही ब्राह्मण को अन्यान्य वर्गों की अपेक्षा श्रेष्ठ माना गया है।[39]लघुहारीतस्मृति में ब्राह्मण के द्वारा ब्राह्मण स्त्री में उत्पन्न को ब्राह्मण कहा गया है।[40] यदि हम किसी बालक के नाम या संस्कार की बात करें तो जन्म से ही इनका निर्धारण होता है न कि कर्म से, क्योंकि एक बालक का तो कोई कर्म निर्धारित नहीं होता, तब तो उसका नाम या संस्कार उसके जन्मगत वर्ण के आधार पर ही किये जाएंगे। ये सभी तथ्य जन्मना वर्णव्यवस्था की ओर संकेत करते हैं, किन्तु स्मृतियों में मात्र जन्म या वंश से ही ब्राह्मणत्व को स्वीकार नहीं किया गया है अपितु उनके आचार, चारित्रिक श्रेष्ठता एवं कर्मों पर भी अधिक बल दिया गया है[41], क्योंकि विहित कर्मों को न करने से तथा निषिद्ध कर्मों को करने से मनुष्य पतित होता है।[42] मनु के अनुसार आचारहीन ब्राह्मण शूद्रत्व को प्राप्त करता है और आचारयुक्त शूद्र श्रेष्ठ जाति को।[43]

शंखस्मृति में जन्म एवं कर्म दोनों को वर्ण विभाजन का आधार माना गया है। एक स्थान पर ब्राह्मण को उपदेश दिया गया है कि वह उसी का यज्ञ कराये व उसी से दान स्वीकार करे, जिसने परम्परागत आजीविका का परित्याग न किया हो और कर्म एवं जन्म से उसका नियमपूर्वक पालन किया हो।[44] शंखस्मृति में यह भीउल्लेख मिलता है कि ब्राह्मण बालक का नाम शर्मन् अन्त वाला (रामदेव शर्मा), क्षत्रिय का वर्मन् (रणवीर वर्मा), वैश्य का धनयुक्त (मोतीलाल गुप्त) एवं शूद्र का दास अन्त वाला (हरिदास) होना चाहिये।[45]यहाँ ब्राह्मणादि वर्गों का शर्मनादि नाम रखा जाना जन्मगत वर्णव्यवस्था को इंगित करता है, किन्तु शंख ने स्पष्ट कहा है कि संस्कार के अभाव में वे (द्विज) शूद्र के समान समझे जाएंगे। और उपनयन के पश्चात् वेदाध्ययन से ही उनको द्विज माना जाएगा।[46] उन्होंने ब्राह्मण को परिभाषित करते हुए कहा है कि जो जन्म–मृत्यु, आधि–व्याधि आदि किसी परिस्थिति में विचलित नहीं होता, वह ब्राह्मण है।[47] अतएव शंख ने जन्मना ब्राह्मण होने पर भी कर्म से ब्राह्मणत्व की सार्थकता मानी है। इस प्रकार स्मृतिकाल में जन्मत: वर्ण होने पर भी कर्म एवं आचार ही ब्राह्मणत्व एवं शूद्रत्व के निर्णायक थे। इसलिये वर्ण का आधार मात्र जन्म को मानना युक्तिसंगत न होगा। जो लोग ऐसा समझते हैं वह वस्तुत: अज्ञानवश ही ऐसा करते हैं।

संक्षेपत: प्राचीनकाल में व्यक्तियों की कर्मगत विशिष्टता को ध्यान में रखकर समाज का चार वर्गों में विभाजन किया गया था और स्मृतिकाल में जन्म के साथ–साथ कर्म एवं आचार को प्रधानता दी गयी थी। कालान्तर में जन्मगत होने से व्यक्ति को माता–पिता के वर्ण से जोड़कर उसकी चिन्तन शक्ति, योग्यता एवं चरित्र का विचार किये बिना उसे अनेक सुविधाओं से वंचित कर दिया गया, जिससे उनमें ऊँच–नीच की भावना पनपती रही और वर्गों में विरोध एवं अलगाव उत्पन्न हो गया।

यहाँ यह विचारणीय है कि किसी वर्ण का निर्धारण मात्र जन्म के आधार पर करना क्या संगत है? क्योंकि यह आवश्यक नहीं है कि ब्राह्मण परिवार में उत्पन्न बालक में ब्राह्मणोचित गुण हो। यह ठीक है कि अनेकश: ऐसा होता है, परन्तु इसे

आधार मानना भी तो उचित नहीं है। आज गुण या योग्यता का विचार किये बिना मात्र जन्म के आधार पर वर्ण का निर्धारण करने के कारण ही समाज में असन्तोष तथा अव्यवस्था उत्पन्न हो चुकी है। इसी कारण बहुत से विद्वानों ने वर्णव्यवस्था के गुण-दोषों की भी चर्चा की है-मेरिडिथ टाउनसन्ड वर्णव्यवस्था को सकारात्मक देखते हुए कहते हैं कि "यह एक अद्भुत आविष्कार है, समाजवाद का एक रूप है जिसने सदियों से हिन्दू समाज को अराजकता एवं औद्योगिक तथा प्रतिस्पर्धात्मक जैसी जीवन की हानिकारक बुराईयों से बचाया है। यह निर्धन के लिए स्वत: प्रवृत्त कानून और सर्वाधिक सुदृढ़ व्यवसायिक संगठन है।[48] सिडनी लॉ के अनुसार " भारतीय समाज को राजनैतिक आघात (प्रभाव) और प्राकृतिक विकल्पों के लिए सबल बनाने वाली तथा मूलभूत स्थिरता और संतोष का प्रमुख कारण, यहाँ की वर्णव्यवस्था है। जो प्रत्येक मनुष्य को समाज में उसका स्थान, आजीविका, जीवन प्रणाली और मित्रमण्डली देती है। यह उसे आरम्भ से ही एक सामूहिक संगठन की सदस्यता प्रदान करती है तथा उसे आजीवन समाज की विनाशकारी दुष्प्रवृत्तियों (ईर्ष्या, अपूर्ण आकांक्षाओं) से बचाती रहती है।[49]

दूसरी ओर कुछ विद्वान् वर्णव्यवस्था की निन्दा करते हैं। सर हेनरी मेन ने इसकी भर्त्सना करते हुए, इसे सबसे अधिक विनाशकारी बताया है[50], किन्तु अध्ययन से स्पष्ट होता है कि प्रारम्भ में यह उतनी कठोर नहीं थी, जितनी कालक्रम के प्रभाव से लोगों ने धर्म, सम्प्रदाय इत्यादि से जोड़कर इसे कठोर बना दिया। डॉ. राधाकृष्णन् के अनुसार "जातिभेद रूपी संस्था सिद्धान्तविहीन पुरोहितों का आविष्कार न होकर समय की अवस्थाओं द्वारा मनुष्य, समाज का स्वयं विकसित रूप थी, जो कि ब्राह्मणग्रन्थों के काल तक आते-आते दृढ़ हो चुकी थी। उनके अनुसार उस समय अनुलोम एवं प्रतिलोम विवाह प्रचलन में थे, किन्तु बाद में रक्त के अत्यधिक सम्मिश्रण को बचाने के लिए सवर्ण विवाह को ही महत्त्व दिया जाने लगा। इस प्रकार जो संस्था प्रारम्भ में केवल सामाजिक रूप में थी, उसे धार्मिक रूप दे दिया गया और जाति विषयक नियम अटल बन गये। प्रारम्भिक वर्णधर्म में जो लचीलापन था उसके स्थान पर जाँत-पाँत के नियम अत्यन्त कठोर हो गये। प्राचीन वैदिककाल में पौरोहित्य एक व्यवसाय था। कोई भी आर्य इस कर्म को कर सकता था, किन्तु इन्हें वैश्य वर्ग से श्रेष्ठ नहीं समझा जाता था। कभी-कभी उन्हें घृणा की दृष्टि से भी देखा जाता था, लेकिन अभिमान के कारण जो अलग रहने का भाव आ गया था, वह जाति का आधार बन गया। इस प्रवृत्ति के कारण स्वतन्त्र विचार दब गये और चिन्तन सम्बन्धी उन्नति पिछड़ गई। सदाचार का मानदंड खण्डित हो गया। जो व्यक्ति जात-बिरादरी के नियमों का उल्लंघन करता था उसे विद्रोही समझा जाता था और जाति से बहिष्कृत कर दिया जाता था। शूद्रों के लिए द्विज कर्मों के अनुष्ठान पर प्रतिबन्ध था, यह धारणा दृढ़ हो चली थी। इस कारण पारस्परिक घृणा बढ़ती गयी।[51]

वैदिककाल से चली आयी वर्णव्यवस्था का विकसित व सुदृढ़ रूप स्मृतिग्रन्थों में उपलब्ध होता है। मन्वादि स्मृतिकारों ने इसका विशद् वर्णन किया है वहीं महर्षि शंख ने अपने शंखस्मृति नामक धर्मशास्त्रग्रन्थ की रचना ही चारों वर्गों के हितसम्पादनार्थ की है।[52] उन्होंने इसमें जिन सांस्कृतिक तथ्यों (वर्णाश्रमादि) को उद्धृत किया है उनसे तत्कालीन समाज का जीवन प्रतिबिम्बित होता है। जिनमें से प्रथमत: वर्णव्यवस्था को विवेचित किया है। महर्षि ने वर्णव्यवस्था सम्बन्धी वर्णोत्पत्ति पर नाममात्र का भी प्रकाश नहीं डाला है केवल शास्त्र के प्रारम्भ में "स्वयम्भुवे नमस्कृत्य सृष्टिसंहारकारिणे।[53] कहा है और चारों वर्गों के धर्म-कर्मों पर संक्षिप्त चर्चा की है। ऐसा लगता है कि महर्षि ने अपने से पूर्व मन के ब्रह्मा से

वर्ण उत्पत्ति विषयक सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया हो, इसलिये उन्होंने इसका वर्णन करना उचित न समझा हो। सम्भवत: वर्ण- व्यवस्था का विस्तृत वर्णन न करने का एक कारण यह हो सकता है कि तत्कालीन समाज में यह व्यवस्था सम्यक् रूप से चल रही हो, इसलिये चारों वर्ण अपने कर्तव्यों को विस्मृत न करने लगे, उन्होंने अपने शास्त्र के माध्यम से उनको अपने धर्म का स्मरण कराया। दूसरी ओर यह अनुमानित किया जा सकता है कि तत्कालीन समाज में वर्ण विषयक नियमों में कहीं-न-कहीं क्षीणता आने लगी हो, जिनके संरक्षण हेतु महर्षि ने सर्वप्रथम वर्णधर्म को अपना विषय बनाया। कारण चाहे जो भी रहा हो पर शंखस्मृति में चारों वर्गों के आचार अथवा कर्त्तव्य-कर्मों पर बल दिया गया है, क्योंकि व्यक्ति के कर्त्तव्यच्युत होने से धर्म पराङ्गमुख हो जाता है।[54]

चारों वर्गों के लिए स्व-स्व उपयोगिकता के आधार पर कार्य निर्धारण किया गया था और सभी वर्गों को अपने-अपने धर्म पालन का उपदेश दिया गया था।[55] दैवी सिद्धान्त के अनुसार ब्रह्मा के मुख से ब्राह्मणों की उत्पत्ति हुई है। मुख बौद्धिक विकास अर्थात् ज्ञान-विज्ञान का परिचायक है। इसलिये ब्राह्मणों को ज्ञान के प्रचार-प्रसार व समाज के मार्गदर्शन का कार्यभार सौंपा गया। ब्रह्मा की भुजाओं से क्षत्रिय की उत्पत्ति कही गयी है। भुजाएँ शक्ति का प्रतीक हैं और शरीर के रक्षण कार्य में सहायक हैं। अतएव समाज की सुरक्षा व शासन संचालन का कार्य क्षत्रियों को दिया गया। वैश्यों की जंघाओं से उत्पत्ति वर्णित है। जंघा शरीर का आधारस्तम्भ है। इस प्रकार वैश्यों को समाज का आधारस्तम्भ मानते हुए, उनके लिए कृषि, व्यापार एवं पशुपालन आदि व्यवसाय के द्वारा समाज के भरण-पोषण का कार्य निर्धारित किया गया। इसी प्रकार ब्रह्मा के पैरों से शूद्र की उत्पत्ति मानी गयी है। पैरों का कार्य शरीर के भार को संभालना तथा उसे गति प्रदान करना है। अत: समाज के लिए शूद्र की आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए, उसे अन्य तीन वर्गों की सेवा का कार्यभार दिया गया। इससे स्पष्ट होता है कि कार्यात्मक दृष्टि से समाज में किसी वर्ण को उच्च तथा किसी को निम्न नहीं माना गया था अपितु सभी वर्णों को समान महत्ता दी गयी थी। ये चारों वर्ण एक-दूसरे के पूरक थे, जिनकी सहभागिता के बिना समाज का संचालन असम्भव था। गृहस्थरत्नाकर में कहा गया है कि जिस प्रकार से एक मानव शरीर का निर्माण एवं संगठन मुख, बाहू, जंघा तथा पैर-इन अंगों की समष्टि से हुआ है उसी प्रकार हमारे समाज का निर्माण इन चारों वर्गों के संगठन से हुआ है। ये पृथक्-पृथक् स्वतन्त्र रूप से कार्य नहीं कर सकते अपितु इनके पारस्परिक संगठित रूप से कार्य करने पर ही समाज का कल्याण सम्भव है।[56] अतएव मानव के विभिन्न अंग उसके लिए जितने महत्त्वपूर्ण हैं उतने ही समाज के लिए ये चारों वर्ण आवश्यक थे। चारों वर्गों में से प्रथम तीन-ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य को 'द्विज' की संज्ञा दी गयी थी। इन तीनों को द्विज इसलिए कहा जाता था कि इनका प्रथम जन्म माता के गर्भ से और द्वितीय जन्म उपनयन के समय यज्ञोपवीत धारण करने से माना जाता था।[57]चतुर्थ वर्ण शूद्र को अन्य तीन वर्णों की अपेक्षा निम्न स्थान दिया गया था और अन्य किसी पंचम वर्ण को मान्यता नहीं दी गयी थी।[58]

सन्दर्भग्रन्था:

1. आर्यानार्ययोर्व्यतिक्षेपे कर्मण: साम्यम्।। गौ.ध., द्वितीय प्रश्न:, प्रथम अध्याय:, 69
2. नक्ता च चक्रुरुषया विरुपे कृष्णं च वर्णमरूपं च सं धु:।। ऋ., 1/73/7, 1/96/5, 2/3/5, 9/97/15, 9/104/4, 9/105/4, 10/124/7

3. यो दासं वर्णमधरं गुहाकः। वही, 2/12/4
4. वर्णो वृणोतेः। निरु., द्वितीय अध्यायः, प्रथम पादः,पृ.71
5. संस्कृत-हिन्दी कोश, वामन शिवराम आप्टे, पृ.101
6. वृ वरणे, वर्ण वर्णने, वृ आच्छादने। जीविकाएं वियते इति वर्णः। वर्णयति वा पुरुषम् इति वर्णः। सरला दूबे, भारतीय समाज और राज्य, पृ.100
7. शं.स्मृ., 1/1, 15/17-20, 17/14
8. जातिस्मरत्वं लभते यदीच्छेत् ।। वही, 11/6
9. हीनजातिस्त्रियं मोहादुद्वहन्तो द्विजातयः।
कुलान्येव नयन्त्याशु ससन्तानानि शुद्रताम् ।।
कर्मणाऽपि समं कुर्याद्धनिकायाधमर्णिकः।
समोऽवकृष्टजातिस्तु दद्याच्छ्रेयांस्तु तच्छनैः।।
भर्तुः शरीरशुश्रूषां धर्मकार्यं च नैत्यकम्।
स्वा चैव कुर्यात्सर्वेषां नास्वजातिः कथञ्चन ।। मनु., 3/15, 8/177 तथा 9/86
10. एते षट् सदृशान्वर्णाञ्जनयन्ति स्वयोनिषु ।
भातृजात्यां प्रसूयन्ते प्रवरासु च योनिषु ।।
प्रतिकूलं वर्तमाना बाह्या बाह्यतरान्पुनः।
हीना हीनान्प्रसूयन्ते वर्णान्पञ्चदशैव तु ।। वही, 10/27, 31
11. वाचस्पत्यम्, चतुर्थ भाग, श्रीतारानाथतर्कवाचस्पतिभट्टाचार्य, चतुर्थ सं.1990, पृ.3092
12. पा.धातु., आचार्य पाणिनि, सं.2006, दिवादिगण में पठित, पृ.31
13. वाचस्पत्यम्, चतुर्थ भाग, श्रीतारानाथतर्कवाचस्पतिभट्टाचार्य, चतुर्थ सं.1990, पृ.3105
14. (क) आकृतिग्रहणा जातिर्लिङ्गानाञ्य न सर्वभाक्।
सकृदाख्यातनिर्ग्राह्या गोत्रञ्च चरणैः सह।। महाभाष्य, 4/1/63
(ख) शब्दकल्पद्रुमः, स्यार-राजा-राधाकान्तदेव-बाहादुर, द्वितीय काण्ड, सं.1961, पृ.530
15. (क) Caste as "a social group having two characteristics (1) Membership is confined to those who are born of members, and includes all persons so born (2) The members are forbidden by an inexorable social low to Marry outside the group." Ketkar, History of Caste in India, p.15.
(ख) सहाय, डॉ. शिवस्वरूप, हिन्दू राज्य और समाज, प्रथम सं.1976, पृ.151
16. (क) Origin & Growth of Caste in India, Dutt, N.K. p.8.
(ख) सहाय, डॉ. शिवस्वरूप, हिन्दू राज्य और समाज, प्रथम सं.1976, पृ.151

17. काणे, पी.वी., धर्मशास्त्र का इतिहास, प्रथम भाग, पृ.119

18. डॉ. किरण टण्डन, भारतीय संस्कृति, पृ.290-291

19. ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहु राजन्य: कृत:।
उरु तदस्य यद्वैश्य: पद्भ्यां शूद्रो अजायत ।। ऋ., 10/90/12

20. डॉ. प्रीति प्रभा गोयल, भारतीय संस्कृति, पृ.21

21. (क) शत.ब्रा., का.2, प्र.1, ब्रा.4, 12 (ख) तै.सं., का.7, प्र.1, अनु.1, 4 (ग) बृह.उप., अ.1, ब्रा.4, 11-13 (घ) महा.शा.प., 181/4, 72/4

22. ऋग्भ्यो जातं वैश्यं वर्णमाहु:। यजुर्वेदं क्षत्रियस्याऽहुर्योनिम्। सामवेदो ब्राह्मणानां प्रसूति:। तै.ब्रा., का.3, प्र.12, अनु.9

23. लोकानां तु विवृद्ध्यर्थं मुखबाहूरुपादत:। ब्राह्मणं क्षत्रियं वैश्यं शूद्रं च निरवर्तयत्।। मनु., 1/31

24. न विशेषोऽस्ति वर्णानां सर्वं ब्राह्ममिदंजगत् ।
ब्रह्मणा पूर्वसृष्टं हि कर्मभिर्वर्णतां गतम्।। महा.शा.प., 181/10

25. (क) ऋ., 1/61/4, 7/32/20, 8/102/8, 9/112/1-3, 10/72/2 (ख) अथर्व., 3/5/6, 7 (ग) तै.सं., का.4, प्र.5, अनु.4, 2-3 (घ) वाज.सं., 16/26-28

26. (क) वर्णसंकरादुत्पन्नान् व्रात्यानाहुर्मनीषिण:। बौ.ध., 1/9/16, 3, 7 (ख) व.ध., 16/30, 18/1 (ग) बै.ध., 10/12, 10/15 (घ) वि.ध., 51/8, 51/14, 10/4 (1) आप.ध., 9/32

27. काणे, पी.वी., धर्मशास्त्र का इतिहास, प्रथम भाग, पृ.125-129

28. जातियाँ-(क) मनु., 3/174, 4/79, 215, 8/68, 10/4, 8, 9, 12, 15, 22, 27, 34, 36, 43-44 (ख) या.स्मृ., 1/91, 92, 94, 148, 197 (ग) अ.सं., 197-199, 251 (घ) वि.स्मृ., 16/1-7, 7/3, 10/4, 51/8-14 (ङ) लि.स्मृ., 80-81 (च) व्या.स्मृ., 1/10-12
(छ) परा.स्मृ. 6/44 (ज) गौ.स्मृ., 4/4-5 तथा उपजातियाँ- मनु., 10/36

29. शं.स्मृ., 1/2-4, 15/22 तथा 17/36-40, 58

30. कारुरहं ततो भिषगुपलप्रक्षिणी नना।
नानाधियो मसूयवोऽनु गा इव तस्थिमेन्द्रायेन्दो परिस्रव।। ऋ., 9/112/3

31. छा.उप., अ.4, ख.4, 1-5

32. श्रीमद्.गी., 6/44-45

33. चातुर्वर्ण्य मया सृष्टं गुणकर्मविभागश:।। वही, 4/13

34. सत्त्वं रजस्तम इति गुणा: प्रकृतिसंभवा:।। वही, 14/5

35. (क) मनु., 12/26-29, 38 (ख) श्रीमद्.गी., 14/6-9

36. तम: शूद्रे रज: क्षत्रे ब्राह्मणे सत्त्वमुत्तमम्।

इत्येवं त्रिषु वर्णेषु विवर्तन्ते गुणास्त्रय:।। महा.आश्व.प., 39/11

37. ब्राह्मणानां सितो वर्ण: क्षत्रियाणां तु लोहित:।
वैश्यानां पीतको वर्ण: शूद्राणामसितस्तथा। महा.शा.प., 181/5

38. वही, 181/11-13

39. मनु., 1/99, 11/84

40. ब्राह्मण्यां ब्राह्मणेनैव ह्युत्पन्नो ब्राह्मण: स्मृत:। ल.हा.स्मृ., 1/15

41. (क) एकोऽपि वेदविद्धर्मं यं व्यवस्येद् द्विजोत्तम:।
स विज्ञेय: परो धर्मो नाज्ञानामुदितोऽयुतै:।।
अवतानाममन्त्राणां जातिमात्रोपजीविनाम्।
सहस्रश: समेतानां परिषत्त्वं न विद्यते।। मनु., 12/113-114
(ख) आचारहीनस्य तु ब्राह्मणस्य वेदा: षडङ्गास्त्वखिला: सयज्ञा:।
कां प्रीतिमुत्पादयितुं समर्था अंधस्य दारा इव दर्शनीया:।। व.स्मृ., 168

42. अकुर्वन्विहितं कर्म निन्दितं च समाचरन् ।
प्रसक्तश्चेन्द्रियार्थेषु प्रायश्चित्तीयते नर:।। मनु., 11/44

43. वही, 2/168 तथा 9/335

44. वृत्तिन्तु न त्यजेद्विद्वानृत्विजं पूर्वमेव तु।
कर्मणा जन्मना शुद्धं विधिना च वृणीत तम्।।
एतैरेव गुणैर्युक्तं धर्मार्जितधनं तथा।
याजयीत सदा विप्रो ग्राह्यस्तस्मात् प्रतिग्रह:।। शं.स्मृ., 5/18-19

45. शर्मान्तं ब्राह्मणस्योक्तं वर्मान्तं क्षत्रियस्य तु।
धनान्तं चैव वैश्यस्य दासान्त वान्त्यजन्मन:।। वही, 2/4

46. वृत्त्या शूद्रसमास्तावद्विज्ञेयास्ते विचक्षणै:।
यावद्वेदेन जायन्ते द्विजा ज्ञेयास्तत: परम् ।। वही, 1/8

47. जन्मना यस्तु निर्विण्णो मरणेन तथैव च।
आधिभिर्व्याधिभिश्चैव तं देवा ब्राह्मणं विदु:।। वही, 7/9

48. "If firmly believe caste to be a marvellous discovery a form of socialism which through ages has protected Hindoo society from anarchy and from the worst evils of industrial and competitive life - it is an automatic poor-low to begin with, and the strongest form known of trades Union". Townsend, Meredith, Asia and Europe, edition 1901, p.72.

49. "There is no doubt that it is the main cause of the fundamental stability and contentment by which Indian society has been braced for centuries against the shocks of politics and the cataclysms of nature. It provides every man with his place, his coreer, his occupation his circle of friends. It makes him, at the outset, a member of a corporate body, it protects him through life from the canker of social jealously and unfulfilled aspirations." Low, Sidney, Vision of India, Second edition 1975, p.262-263.

50. काणे, पी.वी., धर्मशास्त्र का इतिहास, प्रथम भाग, पृ.109

51. डॉ. राधाकृष्णन्, भारतीय दर्शन, भाग-I, पृ.121-122

52. चातुर्वर्ण्यहितार्थाय शङ्खः शास्त्रमथाकरोत् ।। शं.स्मृ., 1/1

53. वही, 1/1

54. चतुर्णामपि वर्णानामाचारो धर्मपालकः।
आचारभ्रष्टदेहानां भवेद्धर्मः पराङ्मुखः।। परा.स्मृ., 1/37

55. (क) शं.स्मृ., 1/2-5 (ख) मनु., 10/97 (ग) श्रीमद्.गी., 3/35

56. डॉ. नीना डोगरा, ग.र., पृ.15

57. (क) ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यस्त्रयो वर्णा द्विजातयः।
तेषां जन्म द्वितीयन्तु विज्ञेयं मौञ्जिबन्धनम् ।। शं.स्मृ., 1/6
(ख) मनु., 10/4 (ग) या.स्मृ., 1/10, 1/39

58. (क) शं.स्मृ., 1/1 (ख) मनु., 10/4